प्रवचन नं. ८४ श्लोक २२ तथा गाथा २३-२५ दिनाङ्क १२-०९-१९७८ मंगलवार
भाद्र शुक्ल १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तमतप धर्म

सातवाँ दिन है आज। उत्तमतप-तप, तप धर्म कहते हैं।

इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥४००॥

आहाहा! जो कोई मुनि.... यहाँ चारित्र की बात है। सम्यग्दर्शन और अनुभवसहित जिसको चारित्र-अन्तर रमणता प्रगट हुई। वैसे चारित्र में उग्र पुरुषार्थ करना, स्वरूप में रमणता का उग्र पुरुषार्थ करना, उसका नाम तप है। समझ में आया? यह कहते हैं, देखो! सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कंचन समान — राग-द्वेषरहित समभाव।

अन्तर में आनन्दस्वरूप की अनुभूतिपूर्वक स्वरूप में रमणता में उग्र पुरुषार्थ करके वीतरागता बढ़ाना और अतीन्द्रिय आनन्द का सुख-स्वाद विशेष लेना, उसका नाम तप कहा जाता है। आहा! यह व्याख्या! समझ में आया? तप, मुनि को 'निर्मल' शब्द भावार्थ में है, चारित्र के लिए जो उद्यम और उपयोग करता है, वह तप कहा है। आहाहा! अन्तर में आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है, उसके अनुभवपूर्वक चारित्र, अर्थात् स्वरूप में रमणता, उसमें उग्र पुरुषार्थ करते हैं। चारित्र के लिए — अन्तर रमणता के लिए... आहाहा! उद्यम और उपयोग करते हैं। है? उद्यम — अन्तर में उद्यम करते हैं। आनन्दस्वरूप में रमणता में... आहाहा! वह तप कहा है। उसे भगवान तप कहते हैं। आहाहा! यह अनशन-अपवास कर डाले और यह कर दिये और वह तप — ऐसा नहीं। यह कहते हैं। अन्तर में आत्मा, चारित्र में रमण करते-करते उग्र पुरुषार्थ से अन्तर में जोर करना, स्वरूप में रमणता की इस दशा को समकित सहित को उत्तमतप धर्म कहते हैं। आहाहा! यह आंशिक (चारित्र) भी सहित होता है।

आत्मा की विभाव परिणति के संस्कार को मिटाने के लिए.... मुनि को भी जरा रागादि बाकी है न, तो उन विभाव संस्कारों को मिटाने के लिए... आहाहा! उद्यम करता है। अपने शुद्धात्मस्वरूप के उपयोग को चारित्र में रोकता है। देखो! आहाहा! अरे! कभी,

कहीं बाहर की मानें, और मैंने यह किया, यह किया... आहाहा! शुद्धस्वरूप उपयोग, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का शुद्ध उपयोग, उसमें उपयोग को-चारित्र में रोकता है। उपयोग को अन्तर रमणता में रोकता है।

अभी शुद्ध उपयोग क्या? अन्तर में विकल्प से रहित निर्विकल्प शुद्ध उपयोग, आहाहा! उसे चारित्र में रोकता है, बड़े बलपूर्वक रोकता है - ऐसा बल करना, वह तप है। यह सब व्याख्या अलग! तुम्हारी अपेक्षा... अर्थ है, हों! ऐसा बल करना वह तप है। आहाहा! तो बाहर का त्याग किया और कुछ पाँच महाव्रत का विकल्प, विकल्प वस्तु तो कहाँ है? यह आया। अपवास किया और हो गया चारित्र व तप। अरे भाई! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। अन्दर समभाव शब्द पड़ा है न! समभाव शब्द पड़ा है। मूल श्लोक में 'समभाओ' — ऐसा आया है न 'समभाओ' ऐसा शब्द पड़ा है, वीतराग, शुद्ध उपयोग से चारित्र में रुकना, शुद्ध उपयोग में वहाँ लगा देना... आहाहा! स्वरूप की दृष्टिपूर्वक चारित्र तो है परन्तु अभी थोड़ा राग बाकी है, उसका नाश करने के लिए अपने शुद्ध उपयोग करके स्वरूप की रमणता में उपयोग को रोकना, उसको उत्तम तप कहते हैं — ऐसी व्याख्या चलती है। समझ में आया? इसके भेद फिर बाह्य-अन्तरंग के (होते हैं) वस्तुस्थिति यह है।

अब, २२ कलश आया है न? बाईसवाँ कलश —

कलश - २२

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥२२॥

श्लोकार्थ : [जगत्] जगत् अर्थात् जगत् के जीवों! [आजन्मलीनं मोहम्] अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को [इदानीं त्यजतु] अब तो छोड़ो और [रसिकानां रोचनं] रसिक जनों को रुचिकर, [उद्यत् ज्ञानम्] उदय हुआ जो ज्ञान उसको [रसयतु] आस्वादन करो; क्योंकि [इह] इस लोक में [आत्मा] आत्मा [किल] वास्तव में [कथम् अपि] किसी प्रकार भी [अनात्मना साकम्] अनात्मा (परद्रव्य) के साथ [क्व अपि काले] कदापि [तादात्म्यवृत्तिम् कलयति न] तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा [एकः] एक है वह अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता।

भावार्थ : आत्मा परद्रव्य के साथ किसी प्रकार किसी समय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार आचार्यदेव ने, अनादि काल से परद्रव्य के प्रति लगा हुआ जो मोह है, उसका भेदविज्ञान बताया है और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोह को अब छोड़ दो और ज्ञान का आस्वादन करो; मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है।

कलश - २२ पर प्रवचन

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

आहाहा! अरे! जगत् (अर्थात्) जगत् के जीवों!.... जगत् का अर्थ जगत् के जीवों, संसारी प्राणियों! **आजन्मलीढं.... आजन्मलीढं.... अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को....** आहाहा! अनादि काल से राग और द्वेष का, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना का अनुभव करते हुए, अनन्त काल हुआ है। आहाहा! **आजन्मलीढं.... अनादि काल से....** आहाहा! पुण्य और पाप रागादिभाव में लीनता, उसका आज तक अनुभव किया है। उस **मोह को....** आहाहा! **इदानीं त्यजतु.... अब तो छोड़ो....** प्रभु! आहाहा! आज तक राग का अनुभव किया, अनादि काल से पुण्य-

पाप मिथ्यात्वभाव का (अनुभव किया) **इदानीं त्यजतु....** प्रभु! अभी तक (अनुभव किया), अभी ही छोड़ दे। आहाहा! अनादि से राग का विकार का वेदन किया है-अनुभव किया है, यह अनादि से किया है, तो हे जगत के प्राणियों! सन्त कहते हैं जगत को, आहाहा! **इदानीं त्यजतु....** अब तो छोड़ दे! आहाहा! और यह राग का अनुभव, आकुलता का अनुभव, दुःख का अनुभव.... आहाहा! प्रभु! छोड़ दे और आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान के आनन्द का अनुभव कर। आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को ऐसा लगता है कि ऐसा तो सब.... ? यह परमसत्य ही ऐसा है।

है ? **रसिकानां रोचनं....** आहाहा! **रसिक जनों को रुचिकर,....** जिसको आनन्दस्वरूप भगवान, ज्ञानस्वरूप प्रभु, जिसको **रसिकानां रसिक को....** (जिसको) रुचि हो गयी है! आनन्द के रसिक को रुचि हो गयी है, उसको... आहाहा! आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उस ओर का जिसको रस चढ़ा है। आहाहा! राग का रस छोड़ दे और आनन्द-ज्ञान के रस को ग्रहण कर। आहाहा! ऐसी भाषा है, ऐसा स्वरूप है, क्या हो ? यह **रसिक जनों को रुचिकर, उदय हुआ जो ज्ञान....** आहाहा! (क्या कहते हैं ?) राग को छोड़कर, जहाँ स्वभाव सन्मुख में एकाग्र हुआ तो ज्ञान में आत्मा प्रगट हुआ, उदय हुआ; राग का अस्त हुआ और अपना आनन्द और ज्ञान की दशा का उदय हुआ। आहाहा! आहाहा!

जीव अधिकार है न ? शुभ-अशुभभाव-राग, वह तो अजीव है। इसका अनुभव तो, प्रभु! तूने अनन्त काल से किया है। साधु हुआ तो भी पंच महाव्रत के परिणाम का अनुभव, वह राग का अनुभव है। आहाहा! अनन्त बार मुनिव्रत धारण किया, आहाहा! अब तो... आहाहा! **रसिकानां रोचनं रसयतु....** आहाहा! **रसिकानां रोचनं उद्यत् ज्ञानम्....** जिसको आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अन्तर का अनुभव करके प्रगट हुआ है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। **उद्यत् ज्ञानम्....** प्रगट हुआ है आत्मा... ज्ञान अर्थात् आत्मा। राग से भिन्न भगवान ज्ञान, वह ज्ञानस्वरूपी प्रवाह आत्मा, अन्तर में दृष्टि करने से वह उदय हुआ है, प्रगट हुआ है। जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, वैसे भगवान प्रकाशित हुआ है। आहाहा! ज्ञान और आनन्द के प्रकाश से प्रगट हुआ है। अरे! ऐसी व्याख्या। है ?

आस्वादन करो;.... इस विकल्प का-राग का अनुभव तो, प्रभु! तूने अनन्त काल से किया है, अब तो छोड़ दे और अपना आनन्दस्वरूप भगवान, ज्ञानस्वरूप रसिक रुचिकर को रसिक — ऐसा ज्ञान और आनन्द उत्पन्न हुआ तो उसका आस्वादन करो। आहाहा! जैसा राग का, पुण्य-पाप का, विकल्प का, विकार का, मोह का अनुभव किया; वैसे भगवान आत्मा का अनुभव करो। थोड़े में भी बहुत भर दिया है! आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा, हों! भगवान पूर्णानन्द वीतराग मूर्ति प्रभु की प्रत्यक्षदशा प्रगट हुई। आहाहा! राग को छोड़कर स्वभाव का आश्रय लिया, वहाँ वह ज्ञान और आनन्द और आत्मा पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा! उस आनन्द का आस्वाद करो, प्रभु! आहाहा! उसका नाम जीव का अनुभव (कहते हैं)। जीव अधिकार है न!

राग-विकल्प जो है; चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का हो; जो उसको छोड़कर... आहाहा! अपना आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप का आश्रय करते हैं तो पर्याय में आनन्द और ज्ञान प्रगट हुआ, उसका आस्वाद करो। जो राग का आस्वाद करता था, वह आत्मा का आस्वाद करो। अरे! ऐसी बातें हैं! समझ में आया? राग का आस्वाद करता था, वह अजीव का आस्वाद था और भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा आश्रय करके जो आनन्द की पर्याय प्रगट हुई, वह जीव है, वह जीव का भाव है। आहाहा! ऐसी बातें अब!

अब दूसरी बात ऐसी कहते हैं कि स्त्री का शरीर, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत को तो कभी आत्मा ने भोगा ही नहीं। क्या कहा? शरीर... शरीर... जड़, वह तो मिट्टी धूल है, मिट्टी; वह तो मिट्टी पुद्गल है, पैसा पुद्गल है। लड्डु, दाल, भात, शाक, जड़ पुद्गल है, उसका तो अनुभव कभी किया ही नहीं; इसने अनुभव किया तो राग-द्वेष का अनुभव किया। समझ में आया? आहाहा! पहले यह शब्द लिया न? ऐसा नहीं लिया कि तुमने स्त्री को भोगा, पैसा भोगा, उसे छोड़ दे, परन्तु उसे भोगा ही नहीं है। उस ओर का राग करके, विकार करके विकार को भोगता था। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वह दुःख का भोक्ता था, प्रभु! कर्मचेतना, (कर्मफलचेतना), राग और राग का फल दुःख। आहाहा!

प्रभु! अब अरागी भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ वीतराग मूर्ति प्रभु का आश्रय ले, वहाँ रस (में) जम, उससे तेरी पर्याय में आनन्द और शान्ति आयेगी, उसका आस्वाद

कर। आहाहा! उसका नाम धर्म है। ऐसी बात है। आहाहा! आस्वादन-अनुभव करो। आहाहा!

भगवान आनन्द और ज्ञान और शान्ति का सागर प्रभु है, उसका अनुभव कर न! आहाहा! अनुभव तो पर्याय में होता है, द्रव्य में कहीं अनुभव होता नहीं है; द्रव्य तो ध्रुव अनन्त आनन्दकन्द प्रभु है, परन्तु उसकी ओर के लक्ष्य से-आश्रय से जो आनन्द की प्रगट दशा हुई, उसका आस्वादन करो। आहाहा! अब ऐसा मार्ग है! यह साधारण लोगों ने बेचारों ने सुना ही नहीं होगा, उन्हें यह, यह कुछ नया मार्ग निकाला कहते हैं परन्तु यह कब का है यह? और हजार वर्ष पहले के तो कलश हैं न, उसमें दो हजार वर्ष पहले के श्लोक (मूल गाथाएँ) हैं और अनादि काल का यह अभिप्राय है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

आस्वादन करो; क्योंकि इस लोक में आत्मा वास्तव में किसी प्रकार भी अनात्मा (परद्रव्य) के साथ.... आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वह कभी राग के साथ एकत्व हुआ ही नहीं। समझ में आया? **किसी प्रकार भी अनात्मा (परद्रव्य) के साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता,....** आहाहा! राग-दया-दान-व्रतादि का विकल्प है, उसके साथ भगवान ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप, पवित्रस्वरूप उस राग के साथ तादात्म्य कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग! इसलिए फिर क्या हो? आहाहा! अन्य (लोग) कहते हैं संयम धरो, वस्त्र छोड़ो... तो वहाँ सातवाँ गुणस्थान आयेगा और वहाँ निर्विकल्प समकित, समकित वहाँ होगा। कहो, अरे भगवान!

यहाँ तो प्रथम जो अनादि का पुण्य और पाप के विकार का-दुःख का अनुभव करता आया है, प्रभु! अब एक बार उसको दृष्टि में से छोड़ दे। क्यों? कि यह आत्मा, राग के साथ तादात्म्य हुआ ही नहीं; इसलिए छूट सकता है — ऐसा कहते हैं। आहाहा! युगलजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! इन पुण्य-पाप के भाव के साथ भगवान आनन्दस्वरूप कभी तादात्म्य / एकरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! तो एकरूप नहीं हुआ तो उस ओर से दृष्टि छोड़ दे। जिससे एकरूप नहीं हुआ, उसकी दृष्टि छोड़ दे और आनन्द व ज्ञान के साथ एकमेक है, वहाँ दृष्टि लगा दे। आहाहा! ऐसा मार्ग! ए ई...! कभी सुना भी नहीं होगा,

इसके बाप-दादा ने, इसके बाप-दादा तो कहाँ थे ? परन्तु.... आहाहा ! आहाहा ! यह दिगम्बर धर्म ! कहीं है नहीं, आहाहा ! यह वस्तु का स्वभाव है, दिगम्बर धर्म कोई पक्ष नहीं है।

यह तो बात करते हैं कि आत्मा, जो विकल्प रागादि है, उस वस्त्र से भिन्न है। आहाहा ! उस रागादि वस्त्र से आत्मा अभेद कभी हुआ ही नहीं। आहाहा ! इससे छोड़कर अत्यन्त ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा परंब्रह्म प्रभु का आश्रय लेकर, उसका स्वीकार करके, उसका सत्कार करके, उसको उपादेय में जानकर, पर्याय में जो आनन्द आया, उसका स्वाद ले, प्रभु ! आहाहा ! गजब बात करते हैं न ! स्वाद लेना वह संवर, निर्जरा है और जीव त्रिकाली है, वह जीवद्रव्य ध्रुव-ज्ञायक है ! आहाहा ! समझ में आया ? राग का स्वाद लेना, वह अजीव है और जीव तो ज्ञायक त्रिकाल है। आहाहा ! उसको छोड़कर शुभ-अशुभराग का स्वाद लेना, वह एक मिथ्यात्वभाव-दुःखरूप भाव, परिभ्रमण का कारण है। आहाहा ! समझ में आया ? यह बात लोगों को ऐसी (कठिन) लगती है तो... आहाहा !

तादात्म्यवृत्तिम् कलयति न.... एकत्व को प्राप्त नहीं होता,.... आहाहा ! प्रभु अन्दर निराला रहा है। राग जो दया, दान, व्रत, शुभ-अशुभभाव और भगवान के बीच में सन्धि है, सांध है; एकत्व नहीं हुआ है। आहाहा ! (दोनों के) बीच में दरार है। दरार समझे ? भिन्नता है। आहाहा ! ऐसी बात है ! शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पैसा, और यह (पर) चीज तो कहीं (दूर) रह गयी। आहाहा ! उसका तो अनुभव है नहीं, परन्तु उस ओर का लक्ष्य करके राग और द्वेष उत्पन्न करता है, उसका अनुभव है, परन्तु वह राग और द्वेष भगवान के साथ कभी तादात्म्य एकरूप हुआ ही नहीं। आहाहा ! दोनों के बीच सांध है, दरार है, भेद है, आहाहा ! तो उसमें भेद है तो उनको छोड़कर, भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु अन्दर... आहाहा ! प्रथम सम्यग्दर्शन के समय की बात है, मुनिपना तो, बापू ! वह कोई अलग चीज है। आहाहा ! उसका स्वाद ले, **क्योंकि आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता।** क्या कहते हैं ? भगवान ज्ञायकस्वरूप परंब्रह्म भगवन्त एकरूप है, वह विकल्पादि अनेकरूप में कभी एकता को प्राप्त नहीं होता। आहाहा ! एकरूप, वह अनेकरूप कभी नहीं होता — ऐसा कहते हैं। आहाहा ! क्या शब्द ! आहा ! सन्तों की वाणी रामबाण है ! अरे ! सुनने को मिले नहीं, वह कब विचार में आवे और वह कब जाये गहरे ! आहाहा !

क्योंकि आत्मा एक है.... एकरूप स्वरूप आनन्दकन्द ज्ञायकभाव एक है और यह विकल्पादि अनेक हैं। यह एक, अनेक के साथ तादात्म्यरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! इस कारण.... यह जीव अधिकार है न? यह जीवस्वरूप भगवान, इस रागादि के अजीव के साथ एकरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! तो एक का अनेक नहीं हुआ तो अनेक का लक्ष्य छोड़कर एक का अनुभव कर। आहाहा! ऐसा मार्ग, लो! हैं! ऐसा मार्ग है भाई! यह कोई पण्डिताई की चीज नहीं है। आहाहा!

तथापि ज्ञानी को भी शुभराग आता है। समझ में आया? परन्तु वह दुःखरूप आता है। आहाहा! तो क्यों आता है? परन्तु आये बिना नहीं रहता। जब तक वीतराग न हो, तब तक ऐसा शुभभाव-भगवान की भक्ति आदि का ऐसा (भाव) आये बिना नहीं रहता। (यद्यपि वह) है दुःखरूप, तथापि उस दुःखरूप में आत्मा तादात्म्य हुआ ही नहीं। आहाहा! उस दुःख के काल में भी अपना आत्मा अन्दर भिन्न रहा है। आहाहा! गजब बात कही है! एक श्लोक में भी! ओहोहो! एक है। आहाहा! वह एक अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप कैसे हो? आहाहा! ज्ञायक आनन्दस्वरूप प्रभु एकरूप सामान्य स्वभाव... आहाहा! वह रागादि अनेकरूप अजीव आदि कैसे हो? आहाहा! यह जीव ज्ञायकस्वरूपी प्रभु एकरूप, उन रागादि अनेक अजीव के साथ वह अनेक कैसे हो? आहाहा! समझ में आये उतना समझना भाई! मार्ग तो... आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का यह पन्थ है। सन्त कहते हैं, वह तो आड़तिया होकर कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं, वह यह है। आहाहा! आहाहा! भाषा तो देखो! **क्व अपि काले तादात्म्यवृत्तिम् न....** धरता एक है। आहाहा! किसी काल में भगवान आत्मा ज्ञायकरसस्वरूप, अज्ञायक ऐसे राग के साथ तादात्म्यवृत्ति — एक, अनेक में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? ऐसे एकरूप स्वभाव का अनुभव करो, इस पर्याय में। वस्तु एकरूप त्रिकाल है, आहाहा! वह राग के साथ एकरूप नहीं हुआ तो एकरूप का अनुभव करो। आहाहा! क्या बात! कहीं नहीं मिलती। आहाहा!

भावार्थ : आत्मा परद्रव्य के साथ किसी प्रकार.... किसी भी प्रकार से **किसी समय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता।....** आहाहा! 'जैसे निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे!' भगवान तो निर्मल स्फटिक जैसी चीज अनादि-अनन्त भिन्न है। आहा! आहाहा! जिसको जीव कहते हैं, आत्मा कहते हैं, आहाहा! वह तो

ज्ञायकभावस्वरूप अनादि-अनन्त भिन्न है। है ? आत्मा भगवान द्रव्यस्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभु, परद्रव्य अर्थात् राग और पुण्य-पाप के साथ... शरीर, वाणी, मन के साथ तो सम्बन्ध क्या है ? वह तो पर का वेदन तो है ही नहीं। **किसी प्रकार....** किसी प्रकार से व्यवहार से भी एक है — ऐसा नहीं है, यहाँ तो यह कहते हैं। आहाहा! निश्चय से भिन्न है तो व्यवहार से एक है ? वह कथन मात्र आता है परन्तु है नहीं। आहाहा! **किसी प्रकार किसी समय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता।**

इस प्रकार आचार्यदेव ने,.... भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने **अनादि काल से परद्रव्य के प्रति लगा हुआ जो मोह है, उसका भेदविज्ञान बताया है....** आहाहा! **और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोह को अब छोड़ दो....** आहाहा! भाषा तो सरल है परन्तु भाव कोई अलौकिक है! आहाहा! इस राग का स्वभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है; इस कारण छोड़ दे। आहाहा! और स्वभाव का अनुभव कर तो यह जीव का अनुभव हुआ। राग का अनुभव है, वह जीव के अनुभव से भिन्न अजीव का अनुभव है। आहाहा! उसका भेदज्ञान बताया है और **एकत्व मोह को छोड़ दो और ज्ञान का आस्वादन करो।...** आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप, जाननस्वभाव का अनुभव करो। **मोह वृथा है,....** मोह की व्याख्या — मोह अर्थात् वृथा, आहाहा! **झूठा है, दुःख का कारण है।** यह शुभ-अशुभभाव, आत्मा में नहीं है; इसलिए झूठा है। मोह का अर्थ ही वृथा है। अमोह का अर्थ सफल है और मोह का अर्थ निष्फल है। आहाहा! ऐसी बातें! अब समाज में ऐसी बातें रखना...

श्रोता : हों वैसी ही रखी जायेगी न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग तो यह है, भाई! चाहे वह पण्डित हो या चाहे जो नाम धराये, मार्ग तो यह है - ऐसा ज्ञान में अभी निर्णय न करे, उसको अनुभव कहाँ से आता है ? आहाहा! समझ में आया ? आहा! **मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है।**

गाथा २३-२५

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते –

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।२५।।

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः।।
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम्।।
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम्।।

युगपदनेकविधस्य बन्धनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोग –वशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यन्ततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमित –समस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभाव –भावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते – रे दुरात्मन्, आत्मपंसन्, जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरस

–तृणाभ्यवहारित्वम्। दूरनिरस्तसमस्तसन्देहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि, यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्य –मित्यनुभूतिः किल घटेत, तत्तु न कथंचनापि स्यात्। तथा हि – यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रव्यत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनु –भूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनु –भूयते। तत्सर्वथा प्रसीद, विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव।

अब, अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न करते हैं —

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है।
''ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा'' वो कहै॥२३॥

सर्वज्ञज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे!॥२४॥

जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को।
तू तब हि ऐसा कह सके, ''है मेरा'' पुद्गलद्रव्य को॥२५॥

गाथार्थ : [अज्ञानमोहितमतिः] जिसकी मति अज्ञान से मोहित है [बहुभावसंयुक्तः] और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है ऐसा [जीवः] जीव [भणति] कहता है कि [इदं] यह [बद्धम् तथा च अबद्धं] शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गल द्रव्य [मम] मेरा है। आचार्य कहते हैं कि — [सर्वज्ञज्ञानदृष्टः] सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो [नित्यम्] सदा [उपयोगलक्षणः] उपयोगलक्षणवाला [जीवः] जीव है [सः] वह [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप [कथं] कैसे हो सकता है [यत्] जिससे कि [भणसि] तू कहता है कि [इदं मम] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? [यदि] यदि [सः] जीवद्रव्य [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और [इतरत्] पुद्गलद्रव्य

[जीवत्वम्] जीवत्व को [आगतम्] प्राप्त करे [तत्] तो [वक्तुं शक्तः] तू कह सकता है [यत्] कि [इदं पुद्गलं द्रव्यम्] यह पुद्गल द्रव्य [मम] मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता।)

टीका : एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है, (१. आश्रय = जिससमें स्फटिकमणि रखा हुआ हो वह वस्तु) अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गयी है ऐसा है, और महा अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव स्वपर का भेद न करके, उन अस्वभावभावों को ही (जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ, पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुभव करता है। (जैसे स्फटिकपाषाण में अनेक प्रकार के वर्णों की निकटता से अनेक वर्णरूपता दिखायी देती है, स्फटिक का निज श्वेत-निर्मलभाव दिखायी नहीं देता इसी प्रकार अज्ञानी को कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है-दिखायी नहीं देता इसलिए पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है।) ऐसे अज्ञानी को अब समझाया जा रहा है कि — रे दुरात्मन्! आत्मघात करनेवाले! जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृण सहित खा जाते हैं उसी प्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़, छोड़। जिसने समस्त सन्देह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति है, ऐसे सर्वज्ञ ज्ञान से स्फुट (प्रगट) किया गया जो नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य वह पुद्गलद्रव्य कैसे हो गया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'? क्योंकि यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमक का पानी' इस प्रकार के अनुभव की भाँति ऐसी अनुभूति वास्तव में ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से नहीं बनता।

दृष्टान्त देकर इसी बात को स्पष्ट करते हैं — जैसे खारापन जिसका लक्षण है ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ दिखायी देता है और द्रवत्व (प्रवाहीपना) जिसका

लक्षण है, ऐसा पानी नमकरूप होता दिखायी देता है, क्योंकि खारेपन और द्रवत्व का एक साथ रहने में अविरोध है, अर्थात् उसमें कोई बाधा नहीं आती, इस प्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य होता हुआ दिखायी नहीं देता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग एक ही साथ रहने में विरोध है; जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते। इसलिए तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो, (अपने चित्त को उज्ज्वल करके) सावधान हो, और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुभव कर।

भावार्थ : यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, कभी भी किसी भी प्रकार से एकरूप नहीं होते ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है; इसलिए हे अज्ञानी! तू परद्रव्य को एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थ की मान्यता से बस कर।

गाथा - २३ से २५ पर प्रवचन

अब, अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न.... देखो! क्या कहते हैं? यह समयसार अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए कहते हैं। मुनि के लिए कहते हैं और मिथ्यादृष्टि के लिए नहीं — ऐसा नहीं है। आहाहा! कितने ही कहते हैं कि समयसार तो मुनियों के लिए है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अप्रतिबुद्ध — अज्ञानी को समझाने के लिए अब प्रयत्न करते हैं। भाषा में.... आहाहा! अरे! तीन गाथाएँ हैं।

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।

जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।२५।।

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है।
''ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा'' वो कहै॥२३॥

सर्वज्ञज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे!॥२४॥

जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को।
तू तब हि ऐसा कह सके, ''है मेरा'' पुद्गलद्रव्य को॥२५॥

आहाहा! **टीका : एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए...** आहाहा! और **अस्वभावभावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है,....** क्या कहते हैं? फिर से — **एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक....** रागादि, **बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश....** विकारभाव, अस्वभावभाव के संयोगवश। आहाहा! तीन लोक का नाथ स्फटिकमणि जैसा चैतन्यमूर्ति (है), परन्तु अस्वभाविक जो भाव है, उसके साथ संयोगवश अनेक प्रकार के रंगवाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक की तरह... स्फटिक पत्थर है, वह तो सब निर्मलानन्द है-निर्मल है, परन्तु संयोग लाल-पीले फूल के कारण उसमें लाल-पीले रंग दिखते हैं, वह उपाधि है। आहाहा! स्फटिक में लाल-पीले फूल के कारण उसमें छाया दिखती है, वह अपनी (स्फटिक की) योग्यता से हुई है। समझ में आया? लकड़ी में हो तो लाल-पीले फूल हों तो छाया नहीं पड़ती क्योंकि उसकी योग्यता नहीं है परन्तु वह योग्यता भी उसका स्वभाव नहीं है — ऐसा बताना है।

आहाहा! स्फटिक में जो लाल-पीला दिखता है, वह उसका स्वभाव नहीं है; वैसे भगवान आत्मा में अस्वाभाविक जो विकार आदिक संयोग में दिखते हैं, वह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! वास्तव में तो ज्ञान के इस भाव में वे ज्ञेयरूप से जानने में आते हैं परन्तु वैसा न मानकर वह चीज मेरी है — ऐसा मानता है, वह मिथ्यात्व भ्रम का सेवन करता है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो स्फटिकमणि का दृष्टान्त दिया है न? कि

स्फटिकमणि में — आत्मा में अनेक प्रकार के बन्धन की उपाधि, अति निकट-नजदीक,.... आहाहा! यह सर्वविशुद्ध में आता है न? (चेतक-चैत्य भाव) ऐसा कि अति निकट है इसलिए; है तो परज्ञेय परन्तु अति निकटता के कारण एक है — ऐसा अज्ञानी को मालूम पड़ता है। आहाहा! सर्वविशुद्ध में आता है। समझ में आया? आहाहा!

अनेक प्रकार की बन्धन की.... निमित्त की **उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए....** आहाहा! रागादिभाव वेगपूर्वक परिणमते अथवा **अस्वभावभावों के संयोगवश....** यह अस्वभावभावों के संयोग के आधीन है। आहाहा! **(अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय की निकटता से....** स्फटिक.... **रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है,....** आहाहा! स्फटिक-पाषाण में रंग के सम्बन्ध से मानो संयोग से मानो स्फटिक लाल-पीला आदि हो गया — ऐसे संयोगवश लोग मानते हैं; वैसे ही भगवान आत्मा... आहाहा! अति निकट विकार के भाव के सम्बन्ध से मानो मैं विकार (रूप) हो गया — ऐसा अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

जैनधर्म सूक्ष्म है, भाई! जैनधर्म, अर्थात् वस्तुधर्म; वस्तु का स्वरूप सूक्ष्म है। आहाहा! अभी तो यहाँ पहले सम्यग्दर्शन की बात चलती है। भेदज्ञान... आहाहा! भगवान आत्मा, स्फटिकमणि को लाल-पीले अनेक रंग के उपाधि के निमित्त से ऐसे लाल-पीली दिखने में आती है; वैसे ही भगवान आत्मा में पुण्य और पाप आदि विकारीभाव का निकटपना होने से... हैं तो परज्ञेय; स्वज्ञान का है तो परज्ञेय, परन्तु अति निकटता से दृष्टि वहाँ होने से रागादिभाव मेरा है — ऐसा अज्ञानी को अनुभव में आता है। आहाहा!

अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गयी है.... आहाहा! उस स्फटिकमणि में लाल-पीले संयोग के कारण लाल-पीला भासित होता है, वह मानो स्फटिक की दशा है — ऐसा मानते हैं। वैसे अज्ञानी अपना चैतन्य ज्ञायकस्वभाव के समीप में रागादि अति निकटता से दिखाई देते हैं कि वह मेरी चीज है — ऐसा मानकर अज्ञानी मूढ़, राग का वेदन करते हैं.... आहाहा! अजीव का वेदन करते हैं, जीव नहीं — ऐसा कहते हैं। आहाहा! एक-एक श्लोक सूक्ष्म भरा है, भाई! आहाहा! है?

अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गयी है.... इस राग से भिन्न भेदज्ञान, अज्ञानी को अस्त हो गया है, अस्त हो गया है, (उसने) एकत्वबुद्धि मान ली है। आहाहा! चाहे तो सूक्ष्म गुण-गुणी के भेद का राग उत्पन्न हो तो राग के साथ भगवान को (आत्मा को) एकता कभी हुई नहीं परन्तु अज्ञानी उस पर दृष्टि होने से राग से भिन्न भेदज्ञान अस्त हो गया और राग में एकत्व है — ऐसा मान लिया। आहाहा! ऐसा उपदेश है लो! **अस्त हो गयी है ऐसा है,....** अज्ञानी। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु की विकारदशा की निकटता से भेदज्ञान ज्योति अस्त हो गयी, क्योंकि राग मैं हूँ — ऐसा अज्ञानी अनुभव करता है, यह अजीव का अनुभव है। आहाहा! कठिन काम!

महा अज्ञान से.... आहाहा! **जिसका हृदय स्वयं....** महा अज्ञान से अपने स्वभावभाव का.... जिसका हृदय **स्वयं स्वतः....** अपने से ही, कर्म के कारण से नहीं। समझ में आया? भाई! कर्म ऐसा है तो ऐसा नहीं, कहते हैं। आहाहा! कर्म तो परद्रव्य है, परद्रव्य को तो पर्याय स्पर्श ही नहीं करती। परद्रव्य की पर्याय अपने में स्पर्श नहीं करती। आहाहा! **महा अज्ञान से....** आहाहा! राग — अस्वभावभाव संयोग के वश से, इसको ऐसा हो गया है कि मैं यह हूँ और इससे भेदज्ञान ज्योति अस्त हो गयी है — ऐसा **महा अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं....** अपने से **स्वतः विमोहित है....** कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! इसमें भी विवाद! यह तो दर्शनमोह का उदय हो, तब ऐसा होता है... कहते हैं। यह तो निमित्त का कथन है। समझ में आया? अपना स्वरूप चैतन्यस्वभाव, वह अस्वभाविक भाव-रागादि के साथ एकत्वबुद्धि करके उसको भेदज्ञान अस्त हो गया है, पर में विमोहित हो गया है। वह स्वयं अपने से विमोहित हुआ है। अपनी भूल से विमोहित हो गया है, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! समझ में आया? 'कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई,' भक्ति में — ऐसा आता है। आहाहा!

लोगों को इसमें भी विवाद है। कर्म के कारण विकार नहीं होता? हैं?

श्रोता : कर्म के कारण न हो तो विकार, स्वभाव हो जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकार स्वभाव हो जायेगा... बड़ी चर्चा हुई थी वर्णीजी के साथ

(संवत्) १३ के साल- २१ वर्ष पहले बड़ी चर्चा (हुई थी)। विकार है, वह कर्म के निमित्त से होता है। कहा — बिल्कुल नहीं; विकार अपने से (होता है); कर्म की अपेक्षा है ही नहीं परन्तु यह सब पूरे सम्प्रदाय में यह बात थी। श्वेताम्बर में तो इसकी ही पूरी मुख्यता है। समझ में आया? (श्वेताम्बर में) एक रामविजय है, उस रामविजय के साथ एक अपने हैं खेड़ावाले जेठाभाई, पक्के श्वेताम्बर और फिर उनके भगत थे और उसमें यहाँ का अपना वाँचन सुनने को आ गया। तब उन्हें ऐसा लगा कि भाई पचास प्रश्न निकाले उन्होंने कि इसका कोई जवाब दो, जो अपने में से मिले-श्वेताम्बर में से तो मुझे बदलना मिटेगा। पचास प्रश्न निकाले, किसी ने जवाब नहीं दिया। एक व्यक्ति ने जवाब दिया परन्तु सब मिथ्या। फिर रामविजय के साथ चर्चा करें, रामविजय के साथ बैठे, रामविजय ने पहले कहा — देखो भाई! इस कर्म से विकार होता है, यह पहले तुम्हें मान्य है? तो फिर चर्चा करेंगे। यह कहते हैं — यह हमें मान्य नहीं है, परन्तु श्वेताम्बर की पूरी शैली ही कर्म के कारण होता है और पर के कारण होता है — ऐसी पूरी विपरीत शैली है। आहाहा!

श्रोता : पूरे संसार की शैली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरे संसार की शैली है। क्या कहें भाई? यह तो — दिगम्बर तो कोई अलौकिक चीज है, कहीं है नहीं, कहीं....

इस बात पर बड़ी चर्चा हुई थी। जेठालाल न, जेठाभाई है अहमदाबाद, मुम्बई रहते हैं। रामविजय के साथ चर्चा हुई, वह मानो कि इन्होंने सोनगढ़ का सब सुना है। आहाहा! अपने चर्चा करें, परन्तु पहले यह मान्य है तुम्हें, ऐसा रामविजय ने कहा कि कर्म से विकार होता है, यह मान्य है? तो चर्चा करते हैं। यह कहता है यह मुझे मान्य नहीं है। वह उनके बड़े आचार्य रामविजय! ऐसी वस्तु क्या? पूरी दृष्टि ही विपरीत है। श्वेताम्बर की शैली ही पूरी दृष्टि विपरीत है। आहाहा! और लोगों को पता नहीं। ये श्वेताम्बर के साधु थे, देखो चेतनजी! कहाँ था कुछ? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि स्वयं। है? स्वतः ही दो शब्द तो पड़े हैं। इस अपने स्वभाव को भूलकर स्वयं स्वतः ही अपने से विमोहित है। राग में अपनापन वह विमोहित स्वयंसिद्ध अपने से है, किसी पर के कारण से है नहीं। आहाहा! परन्तु यह शास्त्र में ऐसा

आता है न ? ज्ञानावरणीय कर्म, ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है। अरे ! ऐसा है नहीं। सुन तो सही ! यह तो निमित्त का कथन है। ज्ञानपर्याय अपने से हीन परिणमति है तो ज्ञानावरणीय कर्म को निमित्त कहा गया है। निमित्त से यहाँ ज्ञानावरणीय आत्मा को रोके, यह बात है नहीं। परद्रव्य आत्मा को रोके — ऐसी बात है नहीं। ऐई.. ! आहाहा ! ऐसी बात है, भाई ! मार्ग यह है, भाई ! आहाहा ! सन्त कहते हैं और आचार्य महाराज... आहाहा ! ऐसा कहते हैं कि देखो क्या ?

जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव स्व-पर का भेद न करके,.... आहाहा ! यह राग जो दया, दान, व्रत आदि का विकल्प है, वह राग है। आहाहा ! उससे भिन्न न करके, आहाहा ! **स्व-पर का भेद न करके....** मैं ज्ञानानन्द हूँ और यह राग पर है। आहाहा ! **उन अस्वभावभावों को ही....** यह पुण्य और पाप के रागादि अस्वभावभाव हैं। **(जो अपने स्वभाव नहीं हैं — ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ,....** आहाहा ! यह व्यवहार का राग आदि आया, उसको अपना करता हुआ। है अस्वभावभाव; अपना स्वभाव नहीं। आहाहा ! इसमें कहाँ फुर्सत (है) ? धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं। आहाहा !

अपना करता हुआ,.... आहाहा ! **पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है'....** वास्तव में यह रागादि पुद्गलद्रव्य ही है; जीवद्रव्य नहीं। आहाहा ! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा विकल्प है, वह पुद्गल है। जीव नहीं इसलिए पुद्गल, जीव में उसका अभाव है, इसलिए... (पुद्गल है।) आहाहा ! इस पुद्गल को ही यह मेरा है, **इस प्रकार अनुभव करता है....** आहाहा ! अज्ञानी, राग को मेरा है, जो अस्वभावभाव है, वह स्वभावभाव-ज्ञायक से भिन्न है — ऐसा भिन्न को अपना मानता है और उसका कर्ता होता है और उसका अनुभव करता है। आहाहा ! अब इसमें एक-एक पद और एक-एक श्लोक समझना कठिन ! वह समयसार पन्द्रह दिन में पढ़ गया — एक व्यक्ति कहता है। तुम समयसार की बहुत महिमा करते हो... बापू ! अक्षर पढ़ गया, इसका एक-एक पद और एक-एक शब्द सन्तों की — दिगम्बर मुनियों की वाणी है। आहाहा ! आहाहा !

यह अपना ज्ञायकस्वभाव जीव वस्तु और रागादि — चाहे तो दया, दान, व्रत,

भक्ति का विकल्प हो परन्तु वह राग, अस्वभावभाव है; वह अस्वभावभाव अपने से भिन्न है। आत्मा अस्वभावभाव से तादात्म्यवृत्ति / एकरूप कभी नहीं हुआ, तथापि अज्ञानी अपने स्वभाव को न जानकर, अस्वभावभाव को अपना मानकर कर्ता होता है। आहाहा! वास्तव में अस्वभावभाव, वह ज्ञानी को परज्ञेयरूप से जानने में आता है। ऐसी बातें हैं! यह तुम्हारे जवाहरात की अपेक्षा यह सब दूसरे प्रकार यहाँ है। आहाहा! बापू! मार्ग (अलौकिक है)! वह सब धूल की जवाहरात है। सब भटकने की...

श्रोता : वह जड़ जवाहरात है, यह चेतन जवाहरात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! प्रभु! तू चैतन्य जवेरी अन्दर है न प्रभु! आहाहा! अनन्त... अनन्त गुण के रत्न के गोदाम अन्दर पड़े हैं न प्रभु! आहाहा! कल कमरा कहा था, गुजराती में ओरडा (कहते हैं)। आहाहा! उसमें यह विकार-फिकार है ही नहीं। जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधता है, वह भाव भी आत्मा में नहीं है, वह आत्मा का नहीं है। आहाहा! अज्ञानी, स्वभावभाव के साथ विभावभाव का एकरूप नहीं होने पर भी, वह रागादि मैं हूँ — ऐसा कर्ता होकर स्वभाव को भूल जाता है और कर्ता होकर राग का कर्ता होता है। (ऐसा) अनुभव होता है। आहाहा!

विशेष आयेगा, लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८५ गाथा-२३ से २५ दिनाङ्क १३-०९-१९७८ बुधवार
भाद्र शुक्ला १२, वीर निर्वाण संवत् २५०४ उत्तमत्यागधर्म

(दशलक्षण धर्म का) आठवाँ दिन है त्याग.... त्याग (धर्म)

जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स॥ ४०१॥

मुनि की व्याख्या है। जिन्हें अपना आत्मा ज्ञानस्वरूपी आनन्द का अन्तर अनुभव हुआ हो, तदुपरान्त स्वरूप में प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया हो, उन मुनि की बात है, उन मुनि को त्यागधर्म है। त्याग की व्याख्या - मुनि को संसार, देह, भोग के ममत्व